

---

## इकाई 28 पुरुषार्थचतुष्टय

---

### इकाई की रूपरेखा

- 28.0 उद्देश्य
- 28.1 प्रस्तावना
- 28.2 धर्म
  - 28.2.1 धर्म की व्याख्या
  - 28.2.2 धर्म और वर्ण व्यवस्था
  - 28.2.3 चारों वर्णों के धर्म
  - 28.2.4 आश्रम व्यवस्था और धर्म
- 28.3 अर्थ
- 28.4 काम
- 28.5 मोक्ष
  - 28.5.1 सांख्य दर्शन में मोक्ष
  - 28.5.2 वैशेषिक दर्शन में मोक्ष
  - 28.5.3 अद्वैत वेदान्त दर्शन में मोक्ष
  - 28.5.4 मोक्ष और वर्णाश्रम व्यवस्था
- 29.6 सारांश
- 29.7 शब्दावली
- 29.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 29.9 अभ्यास प्रश्न

---

### 28.0 उद्देश्य

---

इस इकाई के अध्ययन से आप –

- भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय के बारे में जान सकेंगे।
- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को परिभाषित करने में समर्थ हो सकेंगे।
- जीवन का परम लक्ष्य इन्हीं चार पुरुषार्थों की प्राप्ति है।
- भारतीय संस्कृति की जीवनदृष्टि को समझ सकेंगे
- भारतीय दृष्टि से जीवन मूल्यों की मीमांसा में समर्थ हो सकेंगे।

---

### 28.1 प्रस्तावना

---

भारतीय मनीषियों ने जीवन को चार पुरुषार्थों में बाँटा है— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हीं को पुरुषार्थ शब्द से अभिहित किया जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की समष्टि को पुरुषार्थचतुष्टय कहते हैं। यह चारों पुरुषार्थ मनुष्य और समाज दोनों से सम्बद्ध हैं। पुरुषार्थों के माध्यम से मनुष्य अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक सुखों के मध्य

सम्बन्ध स्थापित करता है। शास्त्रों में भौतिक सुखों, धन प्राप्ति, पुत्रोत्पत्ति आदि को क्षणिक माना गया है। यहाँ सुख वही माना गया है जिसे पाने के बाद कभी दुःख की अनुभूति न हो। धनप्राप्ति, पुत्रोत्पत्ति आदि दुःख रूप में भी परिणत होते हैं, अतः शास्त्रकारों ने नित्य, निरतिशय मोक्ष को ही सुख माना है। लौकिक सुख सर्वथा त्याज्य न होकर भी, परम सुख नहीं हैं इसलिये भारतीय परम्परा उनमें अत्यधिक आसक्ति की पक्षधर नहीं है। पुरुषार्थचतुष्टय के अध्ययन के क्रम में आप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप का अध्ययन करेंगे तथा भारतीय संस्कृति में उनके महत्त्व को समझेंगे।

## 28.2 धर्म

पुरुषार्थचतुष्टय में धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हुये उसे सबसे पहले परिगणित किया गया है। इससे यह स्वयं सिद्ध है कि भारतीय जीवन में धर्म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। धर्म शब्द की निष्पत्ति "धृ" धारणे धातु से होती है जिसका अर्थ है—धारण करना। जो धारण करता है, वही धर्म है। महाभारत में धर्म को परिभाषित करते हुये कहा गया है—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।  
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चितः॥  
प्रमवार्थं च भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्॥

इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म समाज और प्रजा को धारण करता है, उनके अस्तित्व को सदैव बनाये रखता है। सम्पूर्ण समाज धर्म से ही संचालित होता है। यह समस्त प्राणियों की रक्षा करता है। धर्म की व्यवस्था सबके कल्याण के लिये होती है।

### 28.2.1 धर्म की व्याख्या

शास्त्रों में धर्म की अनेक व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म वह है जिससे लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है—  
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। मनु ने आचार को धर्म का लक्षण माना है। मनु के अनुसार धर्म के चार स्रोत माने गये हैं — वेद, स्मृति, सदाचार तथा स्वात्मप्रिय।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।  
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

वेद, स्मृति आदि में विहित कर्मों का आचरण ही प्राचीन काल में धर्म माना जाता था तथा उनके निष्ठापूर्वक पालन पर बल दिया जाता था। मनु ने धर्म के दश लक्षण बताये हैं —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।  
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा क्रोध का अभाव, ये दश धर्म के लक्षण हैं। याज्ञवल्क्य ने भी धर्म को परिभाषित करते हुये कहा है —

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।  
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

इस प्रकार भारतीय विचार में धर्म वह तत्त्व है जिसके माध्यम से व्यक्ति नियमित होता था तथा आत्मविकास करता था। वह इसी धर्म का आचरण करता हुआ अन्ततः मोक्ष प्राप्त करता था।

### 28.2.2 धर्म और वर्ण व्यवस्था

वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था जन्म पर आश्रित थी या कर्म पर, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद नहीं है किन्तु नेसफील्ड जैसे विद्वान् यह मानते हैं कि भारत में वर्ण व्यवस्था कर्म के अनुसार ही थी। वह आज के समान न तो कठोर थी और न ही जन्म पर आश्रित थी। कर्नल अल्काट के अनुसार प्राचीन भारत में जातियाँ परिवर्तनशील थीं। विश्वामित्र, व्यास, सूत आदि इसके उदाहरण हैं। यह मत आपस्तम्ब धर्मसूत्र से भी प्रमाणित होता है। वहाँ कहा गया है कि धर्म के आचरण से नीच वर्ण की जाति परिवर्तित हो जाती है तथा वह उच्च वर्ण को प्राप्त कर लेता है –

**धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वपूर्ववर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ।  
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥**

जिस प्रकार जघन्य वर्ण धर्माचरण से पूर्व-पूर्व वर्ण को प्राप्त करता था उसी प्रकार अधर्माचरण से पूर्व वर्ण जघन्य वर्ण को प्राप्त करता था। इस प्रकार धर्म समाज का नियामक था। इस विषय का उल्लेख मनु भी करते हैं—

**शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चौति शूद्रताम् ।  
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यं तथैव च ॥**

मनु के अनुसार गुण और धर्माचरण आदि कर्मों से शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है तथा ब्राह्मण शूद्रकोटि में जा सकता है। वर्तमान में धर्म को रिलीजन का पर्याय मानने की परम्परा चल पड़ी है जो सर्वथा अनुचित है। धर्म का झूटी के रूप में अनुवाद करना भी उचित नहीं है। भारतीय विचारधारा में धर्म अतिव्यापक तत्त्व है। वह व्यक्ति को नियन्त्रित करता है तथा समाज के प्रति उसके कर्तव्यों के प्रति उसे सजग करता हुआ उन कर्तव्यों के पालन हेतु उसे प्रोत्साहित भी करता है। धर्म के माध्यम से व्यक्ति अपना सर्वाङ्गीण विकास करता है तथा उसके आचरण से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति करता है। कतिपय आचार्यों ने धर्म को कर्तव्यों के संग्रह के रूप में भी परिभाषित किया है। धर्म आजीवन मनुष्य के साथ रहता है। मानव धर्मरहित नहीं हो सकता।

### 28.2.3 चारों वर्णों के धर्म

ऊपर हमने देखा कि धर्माचरण से व्यक्ति का वर्ण परिवर्तित हो सकता था। अपने कर्म के पालन से वह दुर्लभ प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता था। वैदिक साहित्य में इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन्होंने अपने कर्मों से ऋषि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। शास्त्रकारों ने न केवल वर्णों के अपितु प्रत्येक व्यक्ति के, प्रत्येक अवस्था के तथा प्रत्येक आश्रम के धर्मों का निर्धारण किया है। गीता में सभी वर्णों के कर्मों का कथन किया गया है जिन्हें उसके अठारहवें अध्याय में (श्लोक –18/42 से 18/45) देखा जा सकता है। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञान, विज्ञान तथा शास्त्रों में श्रद्धा आदि सभी ब्राह्मण के कर्तव्य बताये गये हैं। शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, शासन करना आदि क्षत्रियों के कर्तव्य हैं। कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा आदि वैश्य के कर्तव्यों में परिगणित हैं। चतुर्थ वर्ण का कार्य सेवा था।

## 28.2.4 आश्रम व्यवस्था और धर्म

भारतवर्ष में आश्रम व्यवस्था जीवन की आधारशिला रही है। जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया था – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक आश्रम में प्रविष्ट होना पड़ता था। यह आश्रम व्यवस्था व्यक्ति को उत्कृष्ट जीवन प्रदान करती थी। इसके माध्यम से आगे बढ़ता हुआ वह मोक्ष के लिये अग्रसर होता था। महाभारत आश्रम व्यवस्था को चार पैरों वाली सीढ़ी बताता है –

**चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।  
एतामारुह्य निःश्रेणी ब्रह्मलोके महीयते।।**

ब्रह्मचर्याश्रम में रहने वाले बालक के भी अपने धर्म कहे गये हैं गुरुकुल के पवित्र वातावरण में वह अपने जीवन का निर्माण करने के लिये उन धर्मों का आचरण अवश्य करे। उपाध्याय वर्ग से शिक्षा प्राप्त करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, साङ्गोपाङ्ग वेदादि का अध्ययन करे, उस समय तैल मर्दन आदि न करे। ब्रह्मचर्य को तपश्चर्या माना गया है। ब्रह्मचारी उससे आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उन्नति एकसाथ प्राप्त करता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—

**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।  
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।।**

सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा आत्मा को जाना जा सकता है। ब्रह्मचर्य ज्ञानरूप प्रदीप के लिये तैल है। यह संसार समुद्र में भटक रहे प्राणियों के लिये आकाश दीप है।

गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ या सर्वज्येष्ठ आश्रम माना गया है। आचार्यों ने इस आश्रम के धर्मों का भी कथन किया है। गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने के लिये अपने अनुरूप, भिन्न गोत्रीय स्त्री से विवाह करना चाहिये। स्त्री को पुरुष की अपेक्षा कम वय की होनी चाहिये –

**अविलुप्त-ब्रह्मचर्यो लक्ष्ण्यां स्त्रियमुद्बहेत्।  
अनन्य-पूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्।।**

गृहस्थ आश्रम में रहता हुआ व्यक्ति अन्य आश्रमों के प्रति अपने दायित्व को समझे, ब्रह्मचारियों तथा सन्न्यासियों के भोजन आदि की व्यवस्था करे। शास्त्रों में त्रिवर्ग साधन में भार्या का अत्यधिक महत्त्व है। पुरुष को लगभग पचीस वर्षों तक गृहस्थ रहकर अपने सन्तानों को समग्र दायित्व सौंपकर वानप्रस्थ ग्रहण करे।

वानप्रस्थ में भिक्षा-वृत्ति का आश्रय करके तपस्या और श्रद्धा का सेवन करता हुआ वह विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करे तथा अपने मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करे। संन्यास आश्रम के धर्मों में सभी प्रकार की ऐषणाओं का परित्याग आवश्यक था। उसे पुत्र की लालसा, धन की लालसा, लोक की लालसा त्यागकर सन्न्यस्त होना चाहिये –**पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा च परित्यक्ता मत्तः सर्वभ्योऽभयमस्तु।** गीता में **“स्वधर्मं निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः”** कहकर धर्म को सर्वोपरि माना गया है। शास्त्रों में राजधर्म आदि की भी चर्चा प्राप्त होती है। प्रजा की रक्षा और उसका पालन राजा का परम धर्म है। राजा के धर्मों का विशद विवेचन महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों में हुआ है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में धर्म की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है।

## 28.3 अर्थ

मानव जीवन का द्वितीय पुरुषार्थ "अर्थ" माना गया है। संकुचित अर्थ में इस शब्द का प्रयोग धन के लिये किया जाता है किन्तु पुरुषार्थ के प्रसंग में यह शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थ को परिभाषित करते हुये वात्स्यायन ने कहा है – **विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धन-धान्य-भाण्डोपस्कर-मित्रादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थः।** विद्या भूमि स्वर्ण, पशु, धन, धान्य, बर्तन आदि, काष्ठ तथा लोहे से निर्मित सामान एवं मित्रों का करना तथा अर्जित किये गये की वृद्धि करना "अर्थ" है। अर्थ उन समस्त आवश्यकताओं तथा साधनों का पूरक है जिनसे मनुष्य भौतिक सुख, ऐश्वर्य, धन, शक्ति आदि को प्राप्त करता है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वार्ता के अन्तर्गत गिने गये हैं। इनका सम्बन्ध भी अर्थ से है। भारतीय संस्कृति में धर्मपूर्वक अर्थ के अर्जन की ही अनुमति है। हमारे शास्त्र किसी के अर्थ को बलात् हरण करने की अनुमति नहीं देते। अन्याय से अर्जित अर्थ पुरुषार्थ की कोटि में नहीं आता। ऐसे अर्थ और काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आते हैं, जो धर्मपूर्वक अर्जित किये गये हों। ईशावास्य उपनिषद् में "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्" कहकर किसी के धन को अपनाने का निषेध किया गया है। कौटिल्य अर्थ को सर्वप्रधान मानते हैं – **अर्थ एव प्रधानः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।** अर्थ सर्वप्रधान है। धर्म और काम अर्थ मूलक हैं। अर्थ के बिना धर्म और काम नहीं हो सकते।

चाणक्य ने कहा है—**सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलमर्थः।** धर्म सुख का मूल है तथा धर्म का मूल अर्थ है। हम एक सुभाषित हमेशा पढते हैं –

**विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।  
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मस्ततः सुखम्॥**

विद्या मनुष्य को विनय प्रदान करती है, विनय से वह योग्यता को प्राप्त करता है। योग्यता से धन की प्राप्ति होती है, धन से धर्म प्राप्त होता है तथा धर्म से सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अर्थ धर्म का मूल है तथा धर्म सुख का। महाभारत में अर्थ को परम धर्म कहा गया है—

**धनमाहुः परमं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।**

**जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः।।उद्योग, 72/23-24**

अर्थ पर सभी वस्तुयें आश्रित हैं इसलिये अर्थ ही परम धर्म है। जो धनी हैं, संसार में वही जीते हैं, सुखपूर्वक निवास करते हैं। निर्धन व्यक्ति मृतक के समान है। भर्तृहरि का कथन है कि जिस पुरुष के पास धन है वही कुलीन है, पण्डित है, वेदविज्ञ है, गुणवान् है तथा दर्शनीय है। सभी गुण धन में ही होते हैं –

**यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः**

**स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।**

**स एव वक्ता स च दर्शनीयः**

**सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।।**

भर्तृहरि त्रिवर्ग में अर्थ की प्रधानता का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। उनके उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति" वाक्य त्रिवर्ग में अर्थ की प्रधानता का ही निर्देश करता है। धनी व्यक्ति सदा सुखी रहता है। सुख का मूल अर्थ है। अर्थ के अभाव में दरिद्र सुख से सर्वथा वञ्चित रहता है। धनी के लिये कोई भी वस्तु अप्राप्य

नहीं होती। काम की पूर्णता भी अर्थ पर ही आश्रित होती है, अतः त्रिवर्ग का मूल अर्थ ही माना गया है।

कृषि, गोपालन आदि प्राचीन काल में अर्थोपार्जन के साधन थे इसीलिये उन्हें भी अर्थ ही कहा गया है। महाभारत में कहा गया है कि अर्थ से ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। अर्थ के बिना धर्म और काम की कोई गति नहीं होती, इसलिये धर्म और काम अर्थ के अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि से ही धर्म और काम विनिवृत्त होते हैं—

**अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।  
न ह्यतेऽर्थेन वर्तते धर्मकामाविति श्रुतिः॥  
अर्थस्यावयववेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।  
अर्थसिद्ध्या विनिवृत्तावुभावेतौ भविष्यतः॥**

चाणक्य के अनुसार अर्थ ही वृत्ति का मूल है तथा समस्त कार्यों का मूल भी अर्थ ही है (वृत्तिमूलम् अर्थः, अर्थमूलं कार्यम्, चाणक्य सूत्र, 1/89-91)। इसी कारण मनुष्य सदैव अर्थ की ओर प्रवृत्त होता है (अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः, चा. सू.7/28)। अर्थवान् सभी का प्रिय होता है (अर्थवान् सर्व लोकस्य बहुमतः, चा. सू. 7/254)।

पद्म पुराण में अर्थ के महत्त्व का उल्लेख करते हुये कहा गया है जिस मनुष्य के पास अर्थ है उसीके पास मित्र और बान्धव होते हैं, धनवान् ही कुल और शील से युक्त माना जाता है, वही विद्वान् कहलाता है वही रूपवान् होता है तथा उसी को यश और सुख प्राप्त होते हैं। जिसके पास धन नहीं होता वह अपने पुत्रों और स्त्री द्वारा छोड़ दिया जाता है, ऐसे पुत्र और स्त्री से रहित धनहीन व्यक्ति के मित्र कैसे हो सकते हैं? वह धनहीन होने के कारण धर्म का अनुष्ठान भी नहीं कर सकता —

**यस्यार्थस्तस्य मित्राणि यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः।  
कुलशीलं हि पाण्डित्यं रूपभोग्यं यशः सुखम्॥  
धनेन तु विहीनस्य पुत्रदारोज्जितस्य च।  
कथं मित्रं कथं धर्मो दीनानां जन्मनः कथम्॥**

सनातन धर्म में अर्थ का इतना महत्त्व स्वीकृत होने के बाद भी, शास्त्रकारों ने अर्थ को धर्म के अधीन ही माना है। समस्त आचार्यों ने धर्मपूर्वक अर्थ की प्राप्ति को ही स्वीकार करके उसे ही पुरुषार्थ के अन्तर्गत माना है। धर्म विरुद्ध अर्थ प्रतिबन्धित है। स्कन्दपुराण में दो प्रकार का धन माना गया है, एक पाप से कमाया गया मनुष्य को बन्धन में डालने वाला धन तथा दूसरा धर्म मार्ग से अर्जित किया गया, जो मोक्ष का साधन बनता है—

**द्विविधं धनमित्याहुः पण्डिताः पारदर्शिनः।  
एकं बन्धाय पापानामपरं मोक्षसाधनम्॥**

शास्त्र दान करने के लिये भी नियम बताते हैं। दान देना अवश्य चाहिये किन्तु वह दान कथमपि प्रशंसनीय नहीं है जिसके बाद दान देने वाला व्यक्ति विपत्ति में पड़ जाये, उसके परिवार के जीवन निर्वाह के लिये कुछ न बचे —

**न तद्दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते।  
दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः॥ भाग. 8/16/36**

शास्त्र अधिक धन अर्जन की भी शिक्षा नहीं देते। उतना धन ही अर्जित करना चाहिये, जितने से उसकी तथा उसके परिवार की उदरपूर्ति हो सके। इससे अधिक संपत्ति पर अधिकार करने वाला व्यक्ति दण्ड का पात्र माना गया है। न्यायपूर्वक अर्जित धन का श्रद्धापूर्वक उचित पात्र को दान देने वाले का धन कभी नष्ट नहीं होता –

विशेषतो महाराज तस्य न्यायार्जितस्य च।  
श्रद्धया विधिवत्पात्रे दत्तस्यान्तो न विद्यते ॥

अनुचित मार्ग से अर्जित अर्थ से मनुष्य को सुख नहीं प्राप्त होता। ऐसा धन अनर्थकारी ही होता है इसलिये सदैव सन्मार्ग से ही अर्थ का संचय करना चाहिये। मार्कण्डेय पुराण में मदालसा अपने पुत्र को समझाती हुई धन के सम्यक् व्यय और संचय का मार्ग बताती है –

पादेनार्थस्य पारर्त्य कुर्यात् सञ्चयमात्मवान्  
अर्धेन चात्मचरणं नित्यनैमित्तिकान्वितम् ॥

पादं चात्मार्थमायस्य मूलभूतं विवर्धयेत्  
एवमाचरतः पुत्र अर्थसाकल्यमृच्छति ॥

हे पुत्र! गृहस्थ को न्यायपूर्वक अर्जित धन का चतुर्थांश पारलौकिक धर्म के लिये संचित करना चाहिये। आधा अंश अपने पोषण तथा नित्य नैमित्तिक कर्म में व्यय करना चाहिये। शेष को मूलधन के रूप में सुरक्षित रखना चाहिये।

अर्थ पुरुषार्थ का प्रतिपादन अत्यन्त व्यापक है। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय विचारधारा छल, कपट आदि से अर्जित धन को पुरुषार्थ के रूप में मान्यता नहीं देती। धर्मपुष्ट मार्ग से अर्जित अर्थ ही पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत है।

## 28.4 काम

काम तीसरे पुरुषार्थ के रूप में परिगणित है। इसका सामान्य अर्थ इन्द्रियों की तृप्ति और वासना से है किन्तु पुरुषार्थ के प्रसंग में यह शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। काम शब्द की निष्पत्ति "कम्" धातु से कर्म में "घञ्" प्रत्यय करने से होती है। "काम्यते इति कामः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होने वाले मानसिक आनन्द का वाचक है। इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषय के आस्वाद से जो सुख प्राप्त होता है, वही काम है। इस शब्द से कामना अभिलाषा तथा स्त्री-पुरुष का संयोगादि अभिहित होता है। कामसूत्रकार वात्स्यायन ने काम को परिभाषित करते हुये कहा है –आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः। मन सहित इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में अनुकूल प्रवृत्ति ही काम है। इस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना, त्वक् आदि इन्द्रियों के रूप, रस आदि अपने विषयों के संयोग से मिलने वाला आनन्द ही काम है।

शास्त्रकारों ने काम को पुरुषार्थ के अन्तर्गत परिगणित करते हुये उसे स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की। धर्मसमर्थित काम-आचरण ही आचार्यों द्वारा समर्थित है। धर्म से विपरीत काम मनुष्य के विनाश का कारण बनता है। मनु धर्मरहित अर्थ और काम के परित्याग की मन्त्रणा देते हैं –

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

काम को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि काम वह सुख है जो इन्द्रियों का विषयों के साथ संसर्ग होने पर प्राप्त होता है –

इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।  
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ॥  
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि काम की तृप्ति प्राप्त न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह उत्पन्न होता है, मोह से स्मृति में भ्रम उत्पन्न होता है, स्मृतिभ्रम से बुद्धि का नाश होता है, बुद्धि का नाश होने से वह मनुष्य नष्ट हो जाता है –

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।  
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥  
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।  
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

काम का महत्त्व इससे और बढ़ जाता है कि गीता में श्रीकृष्ण अपने को धर्माविरुद्ध काम कहते हैं –**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**। मत्स्यपुराण कहता है कि धर्मविहीन काम वन्ध्यापुत्र के समान है –**धर्महीनस्य कर्माथौ वन्ध्यासुतसमौ स्मृतौ**। महाभारत कहता है कि धर्मरहित काम का आचरण करने वाला व्यक्ति आपत्ति में गिर जाता है तथा शत्रु उसका उपहास करते हैं –

धर्मार्थावभिसन्त्यज्य संरम्भं योऽनुमन्यते ।  
हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो न चिरादिव ॥

आचार्यों ने काम के विषय में विशद विचार किया है। इसे चित्त के संकल्प के रूप में मान्यता दी गयी है। इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले विषय सुख भोग के आनन्द को ही आचार्य काम शब्द से अभिहित करते हैं। यह काम मन के संकल्प और विकल्प से उत्पन्न होता है। काम का अर्थ है इच्छा, तृष्णा, वासना आदि। वासनारूप काम से ही संसार की सृष्टि होती है। ऋग्वेद काम को **“मनसो रेतः”** कहता है।

वासनामय काम की उत्पत्ति उन्माद से होती है। उन्माद ही सुख और आनन्द का मूल है तथा प्राणिमात्र के जीवन का लक्ष्य सुख प्राप्ति ही है, इसलिये सुख की प्राप्ति के लिये काम अत्यन्त आवश्यक है। काम से इन्द्रियाँ तृप्ति प्राप्त करती हैं तथा इन्द्रियों की तृप्ति से सुख की अनुभूति होती है –**इन्द्रियप्रसादनफला हि विभूतयः**। यह काम सृष्टिमूलक है, जीवन में आवश्यक होने के कारण ही इसे पुरुषार्थों में परिगणित किया गया है। इसको पवित्र तथा उपयोगी बनाये रखने के लिये आचार्यों ने इसे धर्म से समन्वित किया है। चाणक्य ने कहा है कि जो धर्म और अर्थ को हानि नहीं पहुँचाता वही काम है –**यो धर्मार्थौ न विवर्धयति स कामः**। धर्म, अर्थ और काम जीवन के मूल हैं इनके समन्वय से ही जीवन को पूर्णता प्राप्त होती है।

काम पर विजय पाना अतिदुष्कर कार्य है। जो व्यक्ति काम को जीत लेता है, उसका जीवन सफल हो जाता है। देवता, असुर, राक्षस, पशु, पक्षी, मनुष्य कोई भी इसे जीतने में समर्थ नहीं है। पद्मपुराण में काम की दुर्जेयता का उल्लेख किया गया है–

देवासुर-मनुष्येषु रक्षसां मृगपक्षिणाम् ।  
कीटादीनां च सर्वेषां काम एव सुदुर्जयः ॥



इस प्रकार काम का महत्त्व होते हुये भी उसे सदा धर्म के अनुसार ही मान्यता दी गयी है। काम को धर्म से अनुबद्ध करने का तात्पर्य यही है कि मानव मन में उसके प्रति उन्माद का प्रादुर्भाव न हो। चाणक्य के अनुसार कामासक्त व्यक्ति किसी भी कार्य का सम्यक् अनुष्ठान नहीं कर सकता –न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम्। कौटिल्य यह मन्त्रणा देते हैं कि धर्म और अर्थ के अविरोध से ही काम का सेवन करना चाहिये –धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत, न निःसुखं स्यादिति। आचार्यों ने काम के उपभोग के विषय में भी विचार किया है। अल्पकामोपभोग से कामना का पुनः उत्पन्न होना इस बात का द्योतक है कि चित्त में कामतत्त्व वासना के रूप में अवस्थित रहते हैं। काम का उपभोग सम्यक् प्रकार से करना चाहिये—

**कामं कामयमानस्य यदि कामः स सिद्ध्यति।  
तथैवापरः कामो भूयो विद्ध्यति बाणवत्।।**

शास्त्रकारों ने काम के विषय में जो भी विचार किया है उसका निष्कर्ष यही है कि काम को सदैव धर्म से नियन्त्रित होना चाहिये। मनुष्य को उसके उपभोग में संयमित होना चाहिये। काम का अभिप्राय उन सभी सांसारिक सुख भोगों से है, जिन्हें मनुष्य भोगना चाहता है। समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति में शरीर की परम उपयोगिता है – धर्मार्थकाममोक्षाणां देहः परं साधनम्। धर्म से अर्थ और काम दोनों ही नियन्त्रित होते हैं –धर्माच्च जायते ह्यर्थो धर्मात् कामोऽपि जायते। मनुस्मृति में यह प्रतिपादित किया गया है कि भोगों की शान्ति भोगों से कभी नहीं होती। काम का जितना भी उपभोग किया जाये वह कभी शान्त नहीं होता, अपितु बढ़ता ही जाता है। अग्नि में जितना घी डाला जाता है, आग उतनी ही तीव्र होती है—

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।  
हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते।।**

भगवान् की आराधना से जीव धर्म, अर्थ और काम का उपभोग करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। भक्ति देव दुर्लभ कामनाओं को पूर्ण करती है। शास्त्रों में काम के स्वरूप तथा उसके उपभोग को लेकर जो भी चर्चा प्राप्त होती है उसका निष्कर्ष यही है कि काम को सदा धर्मपूर्वक ही होना चाहिये। धर्मपूर्वक काम मानव जीवन को पूर्णता प्रदान करता है, उसे आनन्द प्रदान करता है तथा उसके जीवन को गति प्रदान करता है किन्तु धर्महीन काम मानव के पतन का कारण बनता है। धर्महीन काम से मनुष्य समाज में उपेक्षा और अपमान प्राप्त करता है इसलिये धर्मपूर्वक काम का ही सेवन करना चाहिये।

---

## 28.5 मोक्ष

---

मोक्ष मानव जीवन का चरम पुरुषार्थ है। प्रत्येक मानव को इसकी प्राप्ति का उपक्रम करना चाहिये। सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को स्वीकार करते हैं एकमात्र चार्वाक ही ऐसा दर्शन है, जो मोक्ष को मान्यता नहीं देता। आवागमन अथवा पुनर्जन्म से मुक्त होकर आत्मा का परमात्मा में विलीन हो जाना ही मोक्ष है। कतिपय दर्शनों में इसे भगवत्सन्निधि आदि के रूप में भी मान्यता मिली है। आत्मा नित्य तत्त्व है। वह अजर और अमर है तथा परमात्मा का अंश है। शरीर ही उसके बन्धन का कारण है।

### 28.5.1 सांख्य दर्शन में मोक्ष

सांख्य दर्शन के अनुसार मानव का साँसारिक जीवन आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से परिपूर्ण है। इन त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही सांख्य मोक्ष मानता है। मोक्षावस्था में पुरुष अपने नित्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रकाशित रहता है। सांख्य मोक्ष में आनन्द की स्थिति को स्वीकार नहीं करता। उसका कारण यह है कि जहाँ सुख होगा वहाँ दुःख होगा ही क्योंकि दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। सुख सत्त्व गुण का कार्य है जबकि पुरुष त्रिगुणातीत है। वस्तुतः पुरुष विशुद्ध चैतन्यरूप है अतः वह नित्य मुक्त है। वह परिणाम से भी अतीत है तथा बन्धन और मोक्ष से भी रहित है। वह बुद्धि में प्रकाशित होने वाले अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तथा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य (जीव) के रूप में प्रतीत होने लगता है। बन्धन इस जीव का ही होता है। शुद्ध पुरुष सर्वथा बन्धन रहित होता है।

### 28.5.2 वैशेषिक दर्शन में मोक्ष

वैशेषिक के अनुसार अविद्या बन्धन का कारण है तथा विद्या मोक्ष प्रदान करती है। अविद्या से ग्रस्त आत्मा कर्म में प्रवृत्त होता है। कर्म के कारण धर्माधर्म संस्कार संचित होते रहते हैं। इन्हीं संस्कारों के फलोन्मुख होने पर आत्मा के फलभोग के लिये यह सृष्टि उत्पन्न होती है। ज्ञान द्वारा कर्म का विनाश हो जाने पर नये कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती तथा प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है, जिससे आत्मा का शरीर, इन्द्रिय आदि से आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा अचेतन शिलाखण्ड की भाँति अवस्थित रहता है। न्याय दर्शन भी मोक्ष के इसी स्वरूप को स्वीकार करता है।

### 28.5.3 अद्वैत वेदान्त दर्शन में मोक्ष

मोक्ष की अवधारणा उपनिषदों (वेदान्त) में अधिक विस्तार से प्रतिपादित है। यह पुरो दृश्यमान जगत् मिथ्या है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या)। उपनिषदों में जगत् के मिथ्यात्व का सप्रमाण विवेचन किया गया है। उपनिषद् ब्रह्म तथा आत्मा में तादात्म्य स्थापित करते हैं। आत्मा और ब्रह्म का यह तादात्म्य ही वेदान्त मत में मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के लिये इन्द्रिय तथा मन का निग्रह परम आवश्यक है। सांसारिक भोगों से विरक्ति तभी होगी जब संसार की अनित्यता का ज्ञान हो जाये। इस अनित्यता के ज्ञान से ही मोक्ष की उत्कण्ठा उत्पन्न होती है। इस उत्कण्ठा के जागरण के अनन्तर साधक को वेदान्त का अध्ययन करना चाहिये। गुरु वेदान्त में प्रतिपादित "तत् त्वमसि" (तुम ही ब्रह्म हो) आदि का बोध कराता है। गुरु के इस उपदेश का पुनः-पुनः चिन्तन मनन करने से आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति होती है तथा साधक को "अहं ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) कि अनुभूति होती है। वेदान्त मत में यह आत्मस्वरूप का परिज्ञान ही मोक्ष कहा गया है।

यह मोक्ष मुक्ति, अपवर्ग आदि नामों से अभिहित किया जाता है। अनेक पुराणों में भी इसके स्वरूप की चर्चा प्राप्त होती है किन्तु वह सब किसी न किसी दर्शन के आलोक में ही की गयी है। पुराणों को मोक्ष का मूल माना गया है। श्रीमद्भागवत में मोक्ष की विशद व्याख्या हुई है। अज्ञान के द्वारा कल्पित कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अनात्मभाव ही बन्धन हैं, इनका परित्याग करके परमात्मरूप अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित होना ही मोक्ष है।

### 28.5.4 मोक्ष और वर्णाश्रम व्यवस्था

मोक्ष की इस अवधारणा का वर्णाश्रम धर्म से भी सम्बन्ध है। वर्णों और आश्रमों के धर्मों का पालन करता हुआ भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मनु का कथन है कि विधिवत् वेदों का अध्ययन करके, धर्मानुसार पुत्र उत्पन्न करके तथा यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करके मोक्ष में मन लगाना चाहिये –

**अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।  
दृष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥**

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या का अध्ययन करके विवाह करके पुरुष काम और धर्म की साधना के लिये गृहस्थ आश्रम स्वीकार करता है। सन्तति आदि की प्राप्ति, उनका पालन पोषण, यज्ञ आदि का अनुष्ठान करके उसे मोक्ष के लिये उद्यत होना चाहिये। स्वधर्म पालन से भी मोक्ष प्राप्ति की चर्चा शस्त्रों में प्राप्त होती है। वर्णानुसार वर्णित धर्मों के पालन से भी मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। स्कन्दपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी सभी संयतात्मा होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं –

**ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा यतिः।  
यदि स्यात् संयतात्मा स नूनं मुक्तिमवाप्नुयात्॥**

इस प्रकार मोक्ष की अवधारणा प्रत्येक आश्रम और वर्ण से भी सम्बद्ध है। मोक्ष का अधिकारी केवल संन्यासी ही नहीं है। अन्य आश्रमों और वर्णों के लोग भी उसके पूर्णतः अधिकारी हैं। अपने धर्म का निर्वाह करने वाला व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है। गीता में भक्तियोग के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति की बात कही गयी है।

### 28.6 सारांश

इस इकाई में आपने अध्ययन किया कि पुरुषार्थचतुष्टय में धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हुये उसे सबसे पहले परिगणित किया गया है। इससे यह स्वयं सिद्ध है कि भारतीय जीवन में धर्म सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। धर्म शब्द की निष्पत्ति "धृ" धारणे धातु से होती है जिसका अर्थ है –धारण करना। जो धारण करता है, वही धर्म है।

धर्म समाज और प्रजा को धारण करता है, उनके अस्तित्व को सदैव बनाये रखता है। सम्पूर्ण समाज धर्म से ही संचालित होता है। यह समस्त प्राणियों की रक्षा करता है। धर्म की व्यवस्था सबके कल्याण के लिये होती है। शास्त्रों में धर्म की अनेक व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म वह है जिससे लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है –**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।** मनु ने आचार को धर्म का लक्षण माना है। मनु के अनुसार धर्म के चार स्रोत माने गये हैं– वेद, स्मृति, सदाचार तथा स्वात्मप्रिय। वेद, स्मृति आदि में विहित कर्मों का आचरण ही प्राचीन काल में धर्म माना जाता था तथा उनके निष्ठापूर्वक पालन पर बल दिया जाता था। मनु ने धर्म के दश लक्षण बताये हैं–

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा क्रोध का अभाव, ये दश धर्म के लक्षण हैं। भारतीय विचार में धर्म वह तत्त्व है जिसके माध्यम से व्यक्ति नियमित होता था तथा आत्मविकास करता था। वह इसी धर्म का आचरण करता हुआ अन्ततः मोक्ष प्राप्त करता था। ऊपर हमने देखा कि धर्माचरण से व्यक्ति का वर्ण परिवर्तित हो सकता था। अपने कर्म के पालन से वह दुर्लभ प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता

था। वैदिक साहित्य में इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन्होंने अपने कर्मों से ऋषि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की। शास्त्रकारों ने न केवल वर्णों के अपितु प्रत्येक व्यक्ति के, प्रत्येक अवस्था के तथा प्रत्येक आश्रम के धर्मों का निर्धारण किया है। गीता में सभी वर्णों के कर्मों का कथन किया गया है। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, अन्तःकरण की पवित्रता, ज्ञान, विज्ञान तथा शास्त्रों में श्रद्धा आदि सभी ब्राह्मण के कर्तव्य बताये गये हैं। शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, शासन करना आदि क्षत्रियों के कर्तव्य हैं। कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा आदि वैश्य के कर्तव्यों में परिगणित हैं।

मानव जीवन का द्वितीय पुरुषार्थ "अर्थ" माना गया है। संकुचित अर्थ में इस शब्द का प्रयोग धन के लिये किया जाता है किन्तु पुरुषार्थ के प्रसंग में यह शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थ को परिभाषित करते हुये वात्स्यायन ने कहा है— विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धन-धान्य-भाण्डोपस्कर-मित्रादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थः। विद्या, भूमि, स्वर्ण, पशु, धन, धान्य, बर्तन आदि, काष्ठ तथा लोहे से निर्मित सामान एवं मित्रों का करना तथा अर्जित किये गये की वृद्धि करना "अर्थ" है। अर्थ उन समस्त आवश्यकताओं तथा साधनों का पूरक है जिनसे मनुष्य भौतिक सुख, ऐश्वर्य, धन, शक्ति आदि को प्राप्त करता है। कृषि पशुपालन और वाणिज्य वार्ता के अन्तर्गत गिने गये हैं। इनका सम्बन्ध भी अर्थ से है। भारतीय संस्कृति में धर्मपूर्वक अर्थ के अर्जन की ही अनुमति है। हमारे शास्त्र किसी के अर्थ को बलात् हरण करने की अनुमति नहीं देते। अन्याय से अर्जित अर्थ पुरुषार्थ की कोटि में नहीं आता। ऐसे अर्थ और काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आते हैं जो धर्मपूर्वक अर्जित किये गये हों। ईशावास्य उपनिषद् में "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्" कहकर किसी के धन को अपनाने का निषेध किया गया है। कौटिल्य अर्थ को सर्वप्रधान मानते हैं—**अर्थ एव प्रधानः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।** अर्थ सर्वप्रधान है। धर्म और काम अर्थमूलक हैं अर्थ के बिना धर्म और काम नहीं हो सकते।

काम तीसरे पुरुषार्थ के रूप में परिगणित है। इसका सामान्य अर्थ इन्द्रियों की तृप्ति और वासना से है किन्तु पुरुषार्थ के प्रसंग में यह शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है। काम शब्द की निष्पत्ति "कम्" धातु से कर्म में "घञ्" प्रत्यय करने से होती है। "काम्यते इति कामः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होने वाले मानसिक आनन्द का वाचक है। इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषय के आस्वाद से जो सुख प्राप्त होता है, वही काम है। इस शब्द से कामना अभिलाषा तथा स्त्री-पुरुष का संयोगादि अभिहित होता है। कामसूत्रकार वात्स्यायन ने काम को परिभाषित करते हुये कहा है—**आभिमानिकरसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः।** मन सहित इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में अनुकूल प्रवृत्ति ही काम है। इस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना, त्वक् आदि इन्द्रियों के रूप, रस आदि अपने विषयों संयोग से मिलने वाला आनन्द ही काम है।

शास्त्रकारों ने काम को पुरुषार्थ के अन्तर्गत परिगणित करते हुये उसे स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की। धर्मसमर्थित काम-आचरण ही आचार्यों द्वारा समर्थित है। धर्म से विपरीत काम मनुष्य के विनाश का कारण बनता है। मनु धर्मरहित अर्थ और काम के परित्याग की मन्त्रणा देते हैं। काम को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि काम वह सुख है जो इन्द्रियों का विषयों के साथ संसर्ग होने पर प्राप्त होता है।

आचार्यों ने काम के विषय में विशद विचार किया है। इसे चित्त के संकल्प के रूप में मान्यता दी गयी है। इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले विषय सुख भोग के

आनन्द को ही आचार्य काम शब्द से अभिहित करते हैं। यह काम मन के संकल्प और विकल्प से उत्पन्न होता है। काम का अर्थ है इच्छा, तृष्णा, वासना आदि। वासनारूप काम से ही संसार की सृष्टि होती है।

वासनामय काम की उत्पत्ति उन्माद से होती है। उन्माद ही सुख और आनन्द का मूल है तथा प्राणिमात्र के जीवन का लक्ष्य सुख प्राप्ति ही है, इसलिये सुख की प्राप्ति के लिये काम अत्यन्त आवश्यक है। काम से इन्द्रियाँ तृप्ति प्राप्त करती हैं तथा इन्द्रियों की तृप्ति से सुख की अनुभूति होती है—**इन्द्रियप्रसादनफला हि विभूतयः।** यह काम सृष्टिमूलक है, जीवन में आवश्यक होने के कारण ही इसे पुरुषार्थों में परिगणित किया गया है। इसको पवित्र तथा उपयोगी बनाये रखने के लिये आचार्यों ने इसे धर्म से समन्वित किया है। चाणक्य ने कहा है कि जो धर्म और अर्थ को हानि नहीं पहुँचाता वही काम है।

भगवान् की आराधना से जीव धर्म, अर्थ और काम का उपभोग करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। भक्ति देव दुर्लभ कामनाओं को पूर्ण करती है। शास्त्रों में काम के स्वरूप तथा उसके उपभोग को लेकर जो भी चर्चा प्राप्त होती है उसका निष्कर्ष यही है कि काम को सदा धर्मपूर्वक ही होना चाहिये। धर्मपूर्वक काम मानव जीवन को पूर्णता प्रदान करता है, उसे आनन्द प्रदान करता है तथा उसके जीवन को गति प्रदान करता है किन्तु धर्महीन काम मानव के पतन का कारण बनता है। धर्महीन काम से मनुष्य समाज में उपेक्षा और अपमान प्राप्त करता है इसलिये धर्मपूर्वक काम का ही सेवन करना चाहिये। इस प्रकार इस इकाई में आपने पुरुषार्थचतुष्टय के बारे में अच्छी प्रकार से अध्ययन किया।

## 28.7 शब्दावली

धर्म	—	चार पुरुषार्थों में सर्वप्रधान पुरुषार्थ
अर्थ	—	द्वितीय पुरुषार्थ
काम	—	तीसरा पुरुषार्थ
मोक्ष	—	चतुर्थ पुरुषार्थ
निःश्रेयस	—	मोक्ष का पर्याय
धर्मपूर्वक	—	धर्म द्वारा अनुमत, समर्थित
इन्द्रियाँ	—	चक्षु, श्रोत्र, त्वक् आदि इन्द्रियाँ
वात्स्यायन	—	कामसूत्र के रचनाकार
कामासक्त	—	काम में आसक्त रहने वाला
धर्माविरुद्ध	—	धर्म से जिसका विरोध न हो

## 28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय संस्कृति और कला, वाचस्पति गैरोला, लखनऊ।
2. भारतीय संस्कृति, राजकिशोर सिंह, आगरा।
3. न्यायदर्शनम्, वाराणसी
4. भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा, वाराणसी।

5. प्राचीन भारतीय कला और संस्कृति, आगरा।
6. वेददीपिका, रमाकान्त पाण्डेय, जयपुर।
7. वेदान्तसार, वाराणसी।
8. सांख्यकारिका, वाराणसी।

---

## 28.9 अभ्यास प्रश्न

---

1. पुरुषार्थ चतुष्टय को परिभाषित कीजिये।
2. धर्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।
3. विभिन्न आचार्यों के अनुसार धर्म का लक्षण लिखिये।
4. अर्थ के बारे में अपने विचार लिखिये।
5. काम क्या है? उसका स्वरूप स्पष्ट कीजिये।
6. विभिन्न दर्शनों में प्राप्त मोक्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिये।
7. भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय का महत्त्व प्रतिपादित कीजिये।

